निर्णय

(अष्टादश सर्ग)

दोहा

शामक[1] आपन्नार्ति[2] के हारक गुरु-भू-भार ।
ज्ञानरुप कोदण्डधर कम्पित जिनसे मार[3] ।।०१।।

खण्डपरशुपदरेणुधर[4] भूधर है यह मान्य ।
भूतभूतिप्रद[5] प्रकृति भी प्रमुदित परम वदान्य[6] ।।०२।।

सार छन्द

भृगु-दर्शन-हर्षित वसुधा का,
क्या उत्साह समुत्थित ।
जलधि गहनता का प्रत्युत्तर,
या भू-मस्तक उत्थित ।
तपोनिरत मुनिगण का यह,
गिरि या विश्वास अटल है ।
हरित सृजन का बिन्दु; धरा जब,
सकल अजीव पटल है ।।०३।।

यदि कैलाश धाम ईश्वर का,
धाम यहाँ भृगुपति का ।
नगद्वय नामोल्लेख मात्र से,
उर कम्पित रतिपति का ।
यदि कैलाश अन्त सब गति का,
प्रेरक यह सद्गति का ।
यदि वह शुभ्र हरित यह गिरिवर,
निर्झर है सन्मति का ।।०४।।

द्वीप विभा का आशा सम्बल,
　　विस्तृत प्रलय उदधि में ।
स्रोत मनीषा का पावन यह,
　　भावी जीवन विधि में ।
मूर्तिमती हो बैठी मानों,
　　जामदग्नि की गरिमा ।
मुनिगण ही जानते तत्व से,
　　इस नगेन्द्र की महिमा ।। ०५ ।।

मानव छन्द

उपविष्ट महादन्ती सा,
　　भूधर भू पर शोभित है ।
है दानवारि निर्झर जल,
　　नव इन्दु दशन द्योतित है ।। ०६ ।।
हीरक गर्भित मस्तक से,
　　अतिक्रान्त करे गजमुक्ता ।
महिमा ज्ञापित करने को,
　　जलधर छत्रता प्रयुक्ता ।। ०७ ।।

प्रथुकाय शक्ति के आकर,
　　जो महिष विचरते वन में ।
महिषासुर याद दिलाते,
　　महिषासुर-मर्दिनि मन में ।। ०८ ।।

किंवा दुंदुभि त्रेता का,
　　होकर भी बालि विमर्दित ।
प्रकटित है पुनः धरा पर,
　　निज माया बल पर गर्वित ।। ०६ ।।

वहाँ नित्य वृष[७] के स्वरूप में अवस्थित है
यहाँ वास करता स्वविग्रह में धर्म है ।
बड़े बड़े यूथों में यहाँ करीन्द्र घूमते हैं
वहाँ दीखता पुराण एक गजचर्म है ।
एक है मयूर, यहाँ नाचते सहस्त्र नित्य
एक नाग, यहाँ नागता ही विषवर्म[८] है ।
करता महेन्द्र प्रतियोगिता कैलाश से भी
इसकी समृद्धि इस भावना का मर्म है ।।१०।।

क्रौञ्चवेधपटु[९] खलदमन ब्रह्मचर्यव्रत धीर ।
शक्तिमान[१०] धर्मज्ञ हैं उभय नगों पर वीर ।।११।।

हततारक[११] कैलाश पर गोद्विजतारक नित्य ।
गिरिपर शोभित भृगूद्वह सत्पथिकों के इत्य[१२] ।।१२।।

समाधिस्थ योगी सदृश वर अग[१३] है कैलाश ।
यतिगण आश्रय दे रहा सानुमान[१४] सुप्रकाश ।।१३।।

मानो ये धरा की सर्गभावना[१५] का है उठाव,
अथवा युगों की तप साधना का कोष है ।
शीलत समीर स्वच्छनीर दीर्घ पुष्पराशि,
शामक सफल भृगुवंशमणि - रोष है ।
है निसर्ग[१६] सर्गशक्ति का अभेद्य दुर्ग एक,
पहुँचा जहाँ न नरता कु कृत्य - दोष है ।
मिलता है दण्ड मृषाभाषकों को याचकों को,
तृप्तिप्रदवित्त व मुमुक्षुओं[१७] को तोष है ।।१४।।

प्रिय यह सखा मनोज[१८] का मित्रदाहभयभीत ।
भाग चला हिमवान से लिया असुर ने जीत।।१५।।

मुक्त किया हरि ने यदपि, लंकापति को मार ।
आया शरण महेन्द्र पर माना ऋषि उपकार ।।१६।।

यतिजन सेवा में निरत, रहता यहाँ बसन्त ।
पूजाहित फल पुष्प तरु धारण करें अनन्त ।।१७।।

आभामय ऋषिवरवदन दीपित परशु महान ।
युगपत[१६] रविशशि उदय का उपजाते हैं भान ।।१८।।

लगता है गिरि दूर से ज्यों निषण्ण[२०] गजराज ।
सुमन - क्षेत्र ज्यों झूल पर चित्रित पुष्प समाज ।।१६।।

संध्यारुण नभ रक्त सा सानुमान करिराज ।
कृत्तिवासता[२१] को पुनः उद्यमरत हर[२२] आज ।।२०।।

क्षय सागर के मध्य ज्यों हरित द्वीप है एक ।
कुमतिजन्य विस्तार में मानो मौन विवेक ।।२१।।

दग्धमेदिनी पर पड़ी मरकत मणि द्युतिमान ।
गगनचरों को भासती गिरिछवि यह अभिराम ।।२२।।

अन्तरिक्ष से अवतरित विजन इला[२३] पर आज ।
शोभित तुंग महेन्द्र पर क्या सप्तर्षि समाज ।।२३।।

नहीं प्रवेश अद्रि[२४] पर संभव,
दंभी बलमानी का ।
ऋषिप्रताप से ऋष्यमूक पर,
ज्यों इंद्रज बाली का ।
हिमवानात्मज[२५] सदृश न छिपता,
जा कर वरुणालय[२६] में ।
इस आलय में लय करते जग,
यति विश्रान्त अभय में ।।२४।।

नहीं हेम - मयता गिरिवर की,
नहीं तुंगता गरिमा ।
मिटा सकी अब तक सुमेरु की,
चिर अनुभूता लघिमा ।
हो महेन्द्र तुम धन्य विष्णु के,
अंश स्वयं राजित हैं ।
अभ्रङ्कष[२७] मम शिखर वृथा ही,
श्रीयुत भू-भ्राजित हैं ।।२५।।

क्रौञ्चवेध भी ज्ञापक बनता,
जिनके दृढ़ विक्रम का ।
गणपति - एकरदत्व[२८] फलन है,
शिवदर्शन - उपक्रम का ।।
जनकाज्ञा-पालन जिनको प्रिय,
माता के जीवन से ।
जिनके कोपानल का जाता,
भय न कुशासक मन से ।।२६।।

जिनकी आज्ञा के पालनहित,
पीछे हटा उदधि भी ।
लुब्ध न कर पायी जिनका मन,
सकल धरा की निधि भी ।
दुर्जन-रुधिर-भरित सरपंचक,
तीर्थ बने नरता हित ।
प्रक्षालित कर परशु हो गयी,
धन्या सरिता लोहित[२९] ।।२७।।

कौन राम से भिन्न दान कर,
सकता सकल धरा का ।
तिरस्कार कर जय बाला का,
सत्ता स्वयंवरा का ।
भूपतियों को किया अकिंचन,
कश्यप[३०] भूप बनाए ।
दत्तात्रेय-वरान्वित हैहय[३१],
जैसे बली हराये ।।२८।।

हव्यवाह[३२] से दीप्त पुनः थे,
आश्रम भारत भू के ।
बहता था शीतल समीर नव,
पावन सौरभ छू के ।
हुआ पुनः प्रारम्भ ऋचाओं,
का सामों का गायन ।
करने लगा तृप्त सुधियों को,
अनुपम ज्ञान-रसायन ।।२६।।

किए नेत्र उन्मीलित ऋषि ने,
देख त्रयी मुस्काए ।
खड़े हुए थे अभिवादन में,
तीनों शीश झुकाऐ ।
ज्ञात प्रयोजन मुझे अचल पर,
आज तीन मुनि आए ।
बड़े स्नेह से व्यास और कृप,
द्रोणतनय बैठाए ।।३०।।

परशुराम

बोले भार्गव एक त्रयी तुम
से भी पहले आयी ।
आज विधाता ने कैसी विधि
सुखकर बहुत बनायी ।
देखा तभी द्रौणि ने राजित
वहाँ स्वयं मारुति थे ।
बल विक्रम के भानु कपीश्वर,
प्रखर ज्ञान की द्युति थे ।।३१।।

पुनः दूसरी ओर विलोका
सस्मित आनन बलि का ।
गायक है यह जगत दानमय
जिनकी विरुदावलि का ।
ले वामन अवतार विष्णु ने
वसुधा जिनसे ली थी ।
हुए तुष्ट पाताल लोक की
प्रभुसत्ता दे दी थी ।।३२।।

रोचन[३३] पुत्र विरोचन[३४] के वे,
दैत्यराज बलमानी ।
लोक पाल नीतिज्ञ शिष्य वे,
उशना[३५] के अति ज्ञानी ।
उनके ही समीप बैठे थे,
विक्रम-नय-शम-विग्रह ।
नहीं सके पहचान द्रौणि ने,
देखा ऋषि को साग्रह ।।३३।।

जामदग्नि[३६] बोले सुत ये हैं,
राक्षसराज विभीषण ।
क्या न सुना त्रेता युगीन वह,
लंका का रण भीषण ।
कर अनीति का नाश त्रास हर,
धरणी का राघव ने ।
इसी सुहृद को दिया राज्य तब,
सुख जाना इस भव ने ।।३४।।

सबको किया प्रणाम द्रौणि ने,
शारद्वत गौतम ने ।
असुरद्वय बोले न मनीषा,
अब तक नाशी तम ने ।
करो नमन स्वीकार हमारा,
हे विप्रो! हे ऋषिगण !
बड़े भाग्य से मिले हमें ये,
पुण्यप्रवर्धक मृदु क्षण ।।३५।।

उदित हुआ संकल्प प्रेरणा,
जो प्रभु से थी आयी ।
वही व्यास ने भार्गवेन्द्र को,
सविनय वहाँ सुनायी ।
बोले राम[३७] सृजन की आज्ञा,
देकर पुनः प्रकृति को ।
हम से चाह रहे प्रभु रोकें,
हम सब सृष्टि विकृति को ।।३६।।

सभी चिरंजीवी इस कारण,
हमने यहाँ बुलाए ।
भावी सर्जन को दूषण से,
कैसे विबुध[३८] बचायें ।
उत्तम -मनप्रग्रह[३९] से जिसके,
वश में इन्द्रियहय हों ।
हो निर्मल प्रज्ञा निरस्त सब,
राग द्वेष मद भय हों ।।३७।।

वही विचारक नवसर्जन का,
निश्चित मार्ग करेगा ।
पुनः लोक होगा विभूतिमय,
मोद अदभ्र[४०] भरेगा ।
नयी सृष्टि के नायक ही यदि,
किल्विषहीन[४१] न होंगे ।
तो क्यों अनुसर्ता[४२] भी उनके,
अघ[४३] में लीन न होंगे ।।३८।।

कर प्रणाम ऋषि को जा बैठे,
दूर झुकाकर आनन ।
द्रौणायनि, शारद्वत दोनों,
का अस्थिर था अति मन ।
असुरद्वय भी चले विनत हो,
तब बोले अवतारी ।
सब क्यों हुए पराङ्मुख, उत्थित
क्या मन संशय भारी ।।३९।।

कृप कृपीज बोले हिंसामय,
मन है रहा हमारा ।
और न प्रज्ञा विमल न जित है,
इन्द्रियग्राम हमारा ।
दैत्यराज ने कहा दिए हैं,
नर को देवों को दुख ।
असुराधिप बोले भोगा है,
अनयार्जित वसु[४४] का सुख । ।४० । ।

कहा विहँस तब बली राम ने,
दोषी कौन न भूपर ।
केवल है सच्चिदानन्द ही,
सब दोषों से ऊपर ।
रहा दुष्ट नरपतियों के कुल,
का बहुधा विध्वंसक ।
इस प्रमाप से तो ठहरूँगा,
मैं ही सब से हिंसक । ।४१ । ।

क्रिया नहीं उद्देश्य, भावना,
देश काल निर्णायक ।
तदनुसार बनते सुकर्म भी,
जग में दोष - विधायक ।
हिंसा नहीं स्वभाव मनुज का,
यह विकार है क्षण का ।
हो जृम्भिता[४५] यही बन जाती,
कारण भीषण रण का । ।४२ । ।

यह ज्वर जैसे ही मानस का,
होकर शमित उतरता ।
शान्त मनुज के मन में फिर से,
अमल दमकती नरता ।
तुम सबकी वह वृत्ति दग्ध हो,
पश्चाताप अनल में ।
बही कालिमा सकल उमड़ते,
उष्ण शुभ्र दृग जल में ।।४३।।

और आत्मजय का विनम्रता,
ही अचूक है लक्षण ।
जय घोषणा करे विज्ञापित,
अहंकार परिरक्षण ।
अनयार्जित सम्पत्ति लोकहित,
मैं यदि गयी लगायी ।
तो न प्रयोक्ता को लगती है,
इसमें तात बुराई ।।४४।।

आओ अनघ तनय ईश्वर के,
मिलकर कर लें चिन्तन ।
फिर से मानव करे न नरता,
का ही क्रूर निकृन्तन[४६] ।
आओ नमन करें उस विभु को,
ज्ञान जहाँ से आता ।
जिसकी करुणा से हम सबका,
नवसर्जन से नाता ।।४५।।

जब तक होगा नहीं पदार्पण,
मानव का भूतल पर ।
तब तक सृष्टि स्वयं चलती है,
अपने नियम अटल पर ।
नहीं आपदा तब तक कोई,
नवसर्जन - मृदुफल पर ।
नहीं विषाक्त प्रभाव पड़ेंगे,
व्योम धरा पर जल पर ।।४६।।

नवसर्जन के उषः काल की,
चिन्ता क्या करनी है ।
क्रीड़ाभूमि नवीन सृष्टि की,
यह धरणी बननी है ।
भू-पर जब तक खेलेगा नर,
भी संसृति शिशु बनकर ।
यह जननी वात्सल्यमयी,
होगी सुफला सुमनाकर ।।४७।।

तुष्ट नहीं नर रह सकता है,
केवल उसी दशा में ।
नहीं चिरन्तन रह सकती रुचि,
उसकी मात्र रसा[४७] में ।
जिस दिन पैर रहेंगे भू - पर,
दृष्टि गगन में होगी ।
उसी दिवस यह संसृति नर से,
शंकित मन में होगी ।।४८।।

चिन्तन इसी बिन्दु से आगे,
का हमको करना है ।
भावी क्रन्दन इस भूतल का,
यदि हमको हरना है ।
निश्चित करनी है हम सबको,
सही अर्थ में उन्नति ।
हो न नाश में पुनः ज्ञान की,
ऐसी निष्ठुर परिणति ।।४९।।

पातालेश[४८] कहो सुविचारित,
प्रथम आज मत अपना ।
कैसे होगा पूर्ण मनुज का,
चरम-समुन्नति - सपना ।
उद्यमशाली वीर व्रती तुम,
जग में अनुपम दानी ।
मार्ग बताओ सुखभागी हो,
कैसे भावी प्राणी ।।५०।।

बलि

बोले विनयमूर्ति वैरोचनि[४९],
मान दे रहे इतना ।
दैत्यों पर भी है प्रतीति का,
भाव आपका कितना ।
उद्यम ही है मूल भूलकर,
सारी दशा विषमता ।
अध्यवसायी[५०] रहे निरन्तर,
मनुज धार कर समता ।।५१।।

नहीं नियति पर छोड़े निज को,
गुरुपुरुषार्थ दिखाए।
कर विक्रम - आघात विसंगति,
को ही व्यर्थ बनाए।
करे सदा विश्वास बाहुबल,
पर आशा को धारे।
मन से होती विजय पराभव,
होता मन के हारे।।५२।।

धृति[५१] अध्यवसायी की स्फुरणा,
उद्यमशाली मन की।
और बुद्धि की ग्रहणशीलता,
चालकशक्ति भुवन की।
उसकी कृपा दृष्टि से सारे,
सुख हैं सर्व सुभगता।
उस प्रभु के सम्वन्ध मात्र से,
जीवन यहाँ उमगता।।५३।।

यदि यह जाना तो न सफलता -
दर्प उपजता नर में।
नहीं मोह आतापदार्थ का,
इस नश्वर लघु घर में।
इस धरणी पर सदा रहे हैं,
दनुज महोद्यमशाली।
जीवन दर्शन उनका अपना,
अपनी शोध-प्रणाली।।५४।।

बल विक्रम पुरुषार्थ सदा ही,
पूजित हैं दनुजों में।
उनके तुल्य न शक्ति रही है,
देवों में मनुजों में।
और तपस्या करने में भी,
रहे सभी से आगे।
निन्दित किन्तु रहे नर सुर से,
दिति[५२] के तनय अभागे ।।५५।।

नहीं हुई स्वीकृत देवों को,
कश्यप[५३] की सन्तानें।
दुर्गुण सभी बताए उनके,
गये न गुण कुछ माने।
कहा तामसी पूजा-पद्धति,
है हम सब असुरों की।
मनु की प्रजा रही पढ़ती,
गाथाएं मात्र सुरों की ।।५६।।

नहीं राज्यवर्धन, दुष्कृत[५४] है,
अरि को नहीं हराना।
अपनी संस्कृति की रक्षा हित,
तन मन से लग जाना।
शिव की आराधना न करती,
दोषान्वित दैत्यों को।
किन्तु हेय ही माना जाता,
उनके सब कृत्यों को ।।५७।।

वे मायावी बने क्योंकि,
मायावी रिपु से हारे।
कहे गये बीभत्स[५५] क्योंकि थे,
खड्ग हाथ में धारे ।
मानी गये बताए तो क्या,
दर्प न आदित्यों[५६] में ।
देवराज तक हुए लिप्त,
बहुशः निन्दित कृत्यों में ।।५८।।

किन्तु रहे जो दोष ज्ञात हैं,
मुझको दितितनयों में ।
शक्ति प्राप्त कर लगे रहे वे,
मूढ़ विविध अनयों में ।
उद्यम बल तप सिद्धि समुच्चय,
असुर-लक्ष्य था इतना।
भोगो सांसारिक सुख सारे,
भोग सको तुम जितना ।।५९।।

अहंकार बल का प्रभुता का,
इतना हुआ विवर्धित ।
तब जो भी विरुद्ध दिखता था,
होता त्वरित विमर्दित ।
तनु तक सीमित रही तितिक्षा,
नहीं बन सकी मन की।
भिन्न-सरणि[५७] हो सकी समादृत,
कभी नहीं बहुजन की।।६०।।

असहिष्णुता भिन्न मत की बन,
गयी प्रगति में बाधक ।
बने शक्ति से साधक दितिसुत,
और भोग आराधक ।
अहंकार क्या तर्पणीय है,
वसुधा के सब वसु से ।
नहीं व्यग्रता जाती मन की,
अरि के कृन्तित[५८] असु से ।।६१।।

नर ने भी पर यहाँ विगत में,
वृत्ति आसुरी धारी ।
अपने को ही समझा संसृति,
का स्वामी अधिकारी ।
सारा भूतवर्ग, मानव भी,
बने स्वार्थ के साधन ।
भौतिकता का ही नर करता,
रहा दुरन्ताराधन[५९] ।।६२।।

असुराधिप ने यदि करवायी,
बल पूर्वक निज अर्चा ।
नृप ने द्विज से करवायी निज,
देव अंश पर चर्चा ।
चारणगण से बार-बार जय-
गान भव्य करवाया ।
निज विशिष्टता का बहुविधि जन,
में प्रचार करवाया ।।६३।।

थी ऐषणा[६०] दानवों जैसी,
नहीं, महोद्यम नर में ।
किन्तु चाहता था आ जाएं,
सिद्धि-सुफल द्रुत कर में ।
नहीं जीत सकता था मानव,
दितिजों आदित्यों से ।
अतः प्रपीड़ित किए भूत सब,
नर ने निज कृत्यों से ।।६४।।

थी न दानवी शक्ति सिद्धि भी,
नहीं सुरों सी पायी ।
किन्तु भोग तृष्णा मानव ने,
अपनी सतत बढ़ायी ।
किया बुद्धि का दुरुपयोग जो,
सुलभ सुगम साधन था ।
सारे अध्यवसायों का अब,
साध्य बना बस धन था ।।६५।।

साध्य नहीं धन हो सकता है,
मानो इसको साधन ।
मात्र पतन में ले जाता है,
सतत भोग आराधन ।
मोषण[६१] निंद्य, ग्रहण मध्यम है,
श्रेयस्कर शुभ अर्जन ।
संग्रह आधिनिधान, सुखों का,
अविरल स्रोत विसर्जन[६२] ।।६६।।

भावी नर को अतः चाहिए,
विक्रम और तितिक्षा ।
क्या माँगना दिवौकस[६३] से भी,
तुच्छ भोग की भिक्षा ।
करे बुद्धि, बल का अर्जन पर,
बने नहीं अभिमानी ।
धृति उदारता का आश्रय ले,
बने दीनहितकामी ।।६७।।

विभीषण

तब लंकेश ओर देखा ऋषि,
ने वे कुछ मुस्काए ।
मैं सहमत हूँ दैत्यराज से,
जो कुछ सत्य बताए ।
बनना होगा सत्य अर्थ में,
नृप को जन का नायक ।
पतन सुनिश्चित है उसका यदि,
परिषद हो अनुगायक[६४] ।।६८।।

यदि करता है नृपति कभी कुछ,
अनय और मनमानी ।
मरता है आँखों का पानी,
बनता है अभिमानी ।
परिषद का है धर्म उसे फिर,
पद से त्वरित हटाना ।
ले सहयोग समस्त प्रजा का,
अवनति स्रोत मिटाना ।।६९।।

अपना भी यदि बन्धु हुआ हो,
अनयपंथ - अनुयायी ।
बार-बार सन्मति की सीखें,
उसने हैं ठुकरायी ।
तो उसको दण्डित करना भी,
धर्म मनुज का बनता ।
मात्र निवारण समय भासती,
पीड़ाकरी व्यसनता ।।७०।।

उदासीनता दुष्टों के प्रति,
बनती पीड़ाकारक ।
गदवत[६५] हो असाध्य वह बनता,
नर का ही संहारक ।
मात्र मन्दता समझ रहा हो,
खल यदि शुभ-आर्जव[६६] को ।
शठता का प्रतिकार साधु है,
तजकर भी मार्दव[६७] को ।।७१।।

मिलती नहीं सुरक्षा दुर्गों
से, सेना आयुध से ।
होती नहीं समुन्नति निश्चित,
प्रतियोगी के वध से ।
राजा और प्रजा का नाता,
यदि है केवल भय का ।
तो कब तक पार्थिव[६८] रह सकता,
अधिकारी सुविजय का ।।७२।।

जन नायक ही यदि बन जाए,
निधि - संग्राहक भोगी ।
संसाधनयुत महाराष्ट्र भी,
क्यों न बने चिर रोगी ।
जिस दिन मान लिया नरपति ने,
राजकोष को अपना ।
उसी दिवस उत्कर्ष राष्ट्र का,
रह जाता बस सपना ।।७३।।

यदि कर्तित करती निर्धनता,
सूत्र ज्ञान का सुख का।
भौतिक उन्नति भी बन जाती,
कभी स्रोत गुरुदुःख का ।
मद्य मांस में प्रजा भुलायी,
बनीं हेममय लंका ।
प्रभुता और शक्ति का बजता,
था जब निशि दिन डंका ।।७४।।

कहाँ भान था वहाँ प्रजा को,
यह उत्कर्ष नहीं है ।
मात्र धनार्जन और भोग,
ऊँचा आदर्श नहीं है।
कान्ता कांचन और वारुणी,
की मधुरा मूर्च्छा में ।
डाल उन्हें राजा करता था,
वर्धन निज ऊर्जा में ।।७५।।

सजग प्रजा हो यदि तो ऐसे,
नृपकृत मोहक बन्धन ।
होते नहीं समादृत करती,
नहीं प्रकृति अभिनन्दन ।
विषवत त्याज्य समझती जनता,
यदि बन्धन चिन्तन के ।
तो न छीन सकता है कोई,
विभव भूति उस जन[६९] के ।।७६।।

करता हो घोषित निज जन को,
सबसे श्रेष्ठ धरा पर ।
कहता बर्बर इतर राष्ट्र को,
अपना धर्म खरा पर ।
सावधान जनता को रहना,
है ऐसे शासक से ।
सिंहासनप्रिय परम गृध्नु[७०] उस,
पटु-मिथ्याभाषक से ।।७७।।

अरिनाशक को मान लिया था,
हमने जन का नायक ।
संरक्षक हो सकता पर क्या,
था उत्कर्ष विधायक ।
मात्र शक्ति का साधक शासक,
बनता स्वेच्छाचारी ।
नहीं अजेय भूमि पर कोई,
आती विपदा भारी ।।७८।।

भोगवाद ही छा जाता जब,
शासक पर जनता पर ।
बढ़ती तृष्णा और रोष फिर,
कल्पित निर्धनता पर ।
अति सीमित प्रतीत होते हैं,
जनपद के संसाधन ।
करता है आकृष्ट अन्य जन,
का चिरसचित बहु धन ।।७६।।

यही लोभ बनता है ईधन,
विकट समर ज्वाला का ।
मनुज-रुधिर चखता जिसने था,
स्वाद लिया हाला[७१] का ।
चल पड़ता फिर चक्र अनय का,
हिंसा का शोषण का ।
असफल उद्यम होता रहता,
अहंकार - पोषण का ।।८०।।

शासक की विग्रह[७२] - प्रियता पर,
गर्व नहीं जन माने ।
प्रजावर्ग इस पापवृत्ति को,
वाहन क्षय का जाने ।
सदा लगाती रहे न जनता,
निज - संस्कृति के नारे ।
अन्यों में भी छिपे सत्य को,
पहचाने स्वीकारे ।।८१।।

हुआ प्रमोद मुझे था उस दिन,
जीती थी जब नरता।
हुई पराजित थी त्रेता में,
पूरी तरह असुरता।
हार गयी थी यदपि असुरता,
पूरी मिटी नहीं थी।
भवदूषण[७३] विषवेल छिन्न थी,
जड़ पर कटी नहीं थी।।८२।।

धार लिया फिर इस मायाविनि,
ने सुसूक्ष्म सा विग्रह।
कर न सकी प्रतिकार मनुजता,
करके मन का निग्रह।
हुई प्रविष्ट निभृत मानस में,
द्वापर में मानव के।
फूट गये है भाग तभी से,
परम क्षुब्ध इस भव के।।८३।।

जब तक विग्रहवान शत्रु था,
निग्रह सुकर[७४] मनुज को।
दुष्कर था खोजना छिपे इस,
विभु[७५] बलवान दनुज को।
क्रमशः दिया पराभव इसने,
छिपकर मानवता को।
वृत्ति आसुरी धार रही थी,
अनुदिन[७६] ही नवता[७७] को।।८४।।

क्रमशः हुआ मनुज ही साधन,
विकट आसुरी जय का।
अब देवों से भी न बचा था।
कारण कोई भय का ।
देव शक्तियाँ क्षीण हुई थीं,
पाकर मनुज उपेक्षा ।
विज्ञानी नर को न त्रिदिव[७८] से,
अब कुछ रही अपेक्षा ।।८५।।

छिन्न-भिन्न कर दिया कृष्ण ने,
पुनः इसे द्वापर में ।
बचा बीज पर लगा फैलने,
फिर से काल अपर में ।
परिवर्तन था गहन न लक्षित,
ज्ञानी भी कर पाया ।
स्वयं मनुज भी मानवता को,
रक्षित क्या कर पाया ।।८६।।

खड़ी हुई थी दानव सेना,
मानव के विग्रह में ।
इसीलिए तो डूब गया था,
कलियुग कटु विग्रह में ।
किन्तु शक्तिपूजक यह दानव,
यह पहचान न पाया।
भस्म करेगी स्वयं इसे ही,
दुर्विज्ञेया[७९] माया ।।८७।।

पराभूत देवत्व प्रथम ही,
था विनष्ट थी नरता ।
किन्तु स्वयं भी क्षार हो गयी,
हो विजयिनी असुरता ।
निभृत अन्य की निकृति धूर्त जो,
आयोजित करते हैं ।
विषफल उनके हेतु कृत्यवट,
बहु धारण करते हैं । ।८८ । ।

नवसर्जन में भी उपजेगी,
फिर से अहा असुरता ।
मिले न उसको पुनः शुक्र[८९] कृत,
वह प्राचीन अमरता ।
सतयुग से हों गुण दैत्यों में,
तप हो बल विक्रम हो ।
शिव आराधन का मंगलमय,
पुनः प्रवर्तित क्रम हो । ।८९ । ।

मायाविता न हो हम सब में,
हो पार्थक्य नरों से ।
पहचाने जाएं हम केवल,
पौरुष युक्त करों से ।
देव असुर मानव में हो बस,
सद्गुण का ही विनिमय ।
प्रतिद्वन्द्विता असूया ईर्ष्या,
हो विलुप्त शंका भय । ।९० । ।

साधुवाद गूँजा महेन्द्र पर,
निकला प्रीत वदन से ।
हो सकते उद्‌भूत पूत ये,
भाव विरज[८१] ही मन से ।
बोले तब रेणुकातनय हे,
मारूतनन्दन! बोलो ।
आयति[८२] के प्रस्फुटन विन्दु पर,
भेद हृदय के खोलो।।६१।।

हनुमान

बोले आञ्जनेय[८३] इस उर में,
कोई भेद नहीं है ।
कहा राम ने इसीलिए तुम,
में भ्रम खेद नहीं है ।
करके अहं विलीन शाश्वती,
महिमा में तुम भाई ।
रहते हो आनन्दमग्न निज,
सुधाधार के पायी ।।६२।।

फिर भी दो अभिव्यक्ति विचारों को,
बनकर उपकारी ।
कैसे हो आनन्दित नव्या,
भव्या संसृति सारी ।
हो बल-बुद्धिनिधान तुम्हें तो,
हरि का साथ मिला है ।
आत्म - प्रसून विभामय सौरभ -
युक्त अशेष खिला है ।।६३।।

पवनतनय ने कहा सरलता,
ने ही सुख साधा है ।
मनोजाल ही मानवसुख की,
एक विकट बाधा है ।
पुत्र या कि सेवक बन हरि का,
यदि भूतल पर आए ।
तो प्राणी को अनायास ही,
सर्व सौख्य मिल जाए ।।६४।।

अमित शक्तियाँ हैं मानव में,
किन्तु आत्म विस्मृत है ।
इसीलिए जगती पर इतना,
दुस्सह दैन्य वितत[८४] है ।
ईश्वर का युवराज माँगता,
देखो मृदा-खिलौने ।
सुखघृत - अभिलाषी यह बालिश[८५],
जल को लगा बिलौने ।।६५।।

परमपिता जब स्वयं जगत के,
शाश्वत हैं रखवाले ।
हम जैसे अल्पज्ञ कौन फिर,
बुद्धि लगाने वाले ।
अहंकार है जब तक प्राणी को,
सुख शान्ति कहाँ है ।
हो इसका यदि विलय जगत की,
फिर यह भ्रान्ति कहाँ है ।।६६।।

केवल अधिकृत भाग भोगने,
में प्रवृत्त जब होगा।
द्वेष दैन्य दुःख द्वन्द्व वासना,
से निवृत्त जग होगा।
सत्य धर्म हित जब मानव में,
त्याग तितिक्षा होगी।
दूर मनुज की तभी बुभुक्षा[८६],
और जिघृक्षा[८७] होगी।।६७।।

जब तक स्वीकृत है समाज को,
गरिमा अबलाजन की।
जब तक बुद्धि शासिका रहती,
क्षण - परिणामी मन की।
रहता प्रखर आत्मबल जब तक,
पापशक्ति - प्रतिरोधी।
उस समाज की उन्नति का बन,
सकता कौन विरोधी।।६८।।

अनयार्जित सम्पत्ति विलोकी,
जाती जब निन्दा से।
वित्तहीन का मानस भरता,
नहीं आत्म-निन्दा से।
धनवत्ता गुणवत्ता का,
पर्याय न मानी जाती।
मात्र स्वर्णचय में न सुरक्षा,
जब तक जानी जाती।।६६।।

शान्ति और सुख के उपवन में,
तब तक मनुज विहरता ।
लोभ-दनुज जब तक न मनीषा,
कान्ता को है हरता ।
संसाधन आधिक्य नहीं सुख,
का यथार्थ है मापक ।
मित-परिमाणवित्त भी होता,
नहीं दैन्य का ज्ञापक ।।१००।।

खोज रहा जो मूढ़ मात्र धन,
में निज सौख्य सुरक्षा ।
रावणकृत कुबेर - प्रति - अपकृति,
से ले ले कुछ शिक्षा ।
धन की जब थी नहीं धारणा,
तब क्या मोद नहीं था ।
क्या अतीत में मानव - जीवन,
में आमोद नहीं था ।।१०१।।

शम से वश्य नहीं होती है,
जग में कभी असुरता ।
पीड़ा बनती नियति मनुज की,
यदि है नहीं प्रखरता ।
बल विद्या से ही आ सकती,
मानव में निर्भयता ।
पापशक्ति - उच्छेदप्रयुक्ता,
निंद्य नहीं निर्दयता ।।१०२।।

ध्येयहीन हो बिखरी रहती,
ऊर्जा जो मानव की ।
बनती स्रोत विनाशवृत्ति की,
बान्धव से विग्रह की ।
उसे नियोजित जननायक जब,
धर्म हेतु करता है ।
बली छली रिपु भी नरता का,
सदल खेत[८८] रहता है ।।१०३।।

समझी जाती जब मर्यादा,
मात्र लौहमय बन्धन ।
उच्छृंखलता का जब जनता,
करती है अभिनन्दन ।
युग-युग से सञ्चित विवेक को,
कहकर गलित पुराना ।
व्याख्यापित करते अतीत को,
कर कुतर्क मनमाना ।।१०४।।

विश्रृंखलन हो जाता है तब,
उस समाज का अतिशय ।
संस्कृति का उच्छेद उपस्थित,
करता है दुर्जय भय ।
उत्प्लावित[८९] होता जलनिधि में,
छिन्नमूल तरुवर सा ।
खोई निज अस्मिता खोजता,
विह्वल मनुज विवश सा ।।१०५।।

उत्तमता नवीन चिन्तन की,
विज्ञापित करने को।
आस्थागत शून्यता विकलता,
अपनी बहु भरने को।
करता जाता विविध पदार्थों का,
अपूर्व वह सञ्चय।
किन्तु शान्ति सुख और क्षेम से,
हुआ न उसका परिचय।।१०६।।

जननायक संस्कृति का रक्षक,
वही श्रेष्ठ है शासक।
सर्वाङ्गीण विकास हेतु जो,
बनता बाधानाशक।
अनुचित माँग प्रजा की हो तो,
शासक उसे न माने।
जनप्रियता से अधिक राष्ट्रहित,
को वरेण्य वह जाने।।१०७।।

कृपाचार्य

भार्गवेन्द्र बोले शारद्वत,
वचन-सुमन बरसाएं।
जिनके सौरभ से हो सुरभित,
पावन मन हरषाएं।
बोले कृप हे ऋषिवर मुझको,
निज अनुभव कहना है।
द्वापर में चुप रहा नहीं अब,
मौन मुझे सहना है।।१०८।।

जब विदग्ध[६०] बनता पार्थिव का,
चारण या कि पुरोहित ।
दानपात्र या वृत्तिकाम[६१] हो,
कर तृष्णा अधिरोहित ।
विद्या तब दासी बन जाती,
श्री बनती महिषी है ।
तब विपत्ति सारे समाज पर,
आ पड़ती महती[६२] है ।।१०६।।

सीमित होती है वह विद्या,
जो बस अर्थकरी हो ।
अहंकार की विषम भावना,
जिसमें पूर्ण भरी हो ।
जिसका हो उद्देश्य अन्य जन,
पर करना बस शासन ।
मात्र लक्ष्य जिसका हो ऊँचा,
पाना पद या आसन ।।११०।।

जब दाता ही लोभयुक्त हो,
दृप्त धूर्त आदाता[६३] ।
कैसे होगा ज्ञान, भूतिमय,
अमल कहाँ वह नाता ।
शिक्षा कौन कहेगा इसको,
मात्र वस्तु का विनिमय ।
जिसमें है संपृक्त असूया,
ईर्ष्या शंका अभिनय ।।१११।।

नहीं व्यष्टि[६४] - उन्नयन - क्षमा भी,
क्या समष्टि हित होगा ।
दूषित धारा से न बनेगी,
नरता कभी अरोगा ।
हो सदोष उद्‌गम ही धारा,
कैसे विमल बहेगी ।
पुनः सभी उत्पात यहाँ पर,
नरता विवश सहेगी ।।११२।।

अर्जन ही सिखलाया धन का,
नहीं सिखाया जीना ।
मानसुरा - उन्मत्त न जाने,
स्नेहसुधा का पीना ।
अर्जनरत रहता सारा वय,
नर सुख की आशा में ।
वृद्धि शतगुणित होती जाती,
अनुदिन अभिलाषा में ।।११३।।

जिस वपु के सुख हेतु निरन्तर,
उद्यमरत रहता है ।
वही कालनद में तिनके सा,
विवश बहा करता है ।
करता रहा रातदिन खपकर,
उपकरणों का सञ्चय ।
बना दैन्य - प्रतिमूर्ति न सुख से,
हुआ क्षणिक भी परिचय ।।११४।।

विद्या आजीविका खेल भी,
आधारित यन्त्रों पर ।
और प्रशासन चलता हो यदि,
नियमों के तन्त्रों पर ।
विधिपालन नरगण करता हो,
मात्र दण्ड के भय से ।
जहाँ प्रतिष्ठा मानी जाती,
मात्र वस्तु सञ्चय से ।।११५।।

तर्क तृषा का और त्वरा[६५] का,
शासन हो यदि मन पर ।
क्रिया और चिन्तना सरणि की,
इति श्री हो बस धन पर ।
तो अशान्ति शासन करती है,
मानस में जन-जन के ।
वही प्रकट हो दूषित करती,
विविध पक्ष जीवन के ।।११६।।

बोले कृप ज्ञानी न करें अब,
स्वीकृत राज्याश्रय को ।
नहीं त्याग पाता राज्याश्रित,
पक्षपात या भय को ।
यह सम्भव है तभी न केवल,
भौतिक संसाधन पर ।
निर्भर हो विद्या न यन्त्रचय,
पर या केवल धन पर ।।११७।।

वही व्यक्ति हो सकता विद्या,
वितरण का अधिकारी ।
ज्ञान और करुणा का सागर,
जन-जन का उपकारी ।
जिसने लोभादिक रिपुओं को,
मानस रण में जीता ।
त्याग और तप से हो जिसकी,
प्रज्ञा परम पुनीता ।।११८।।

विद्या वही बने जो नर की,
चिरविमुक्ति का साधन ।
नहीं ज्ञान वह जो सिखलाए,
भौतिकता - आराधन ।
वही ज्ञान जो हर ले नर के,
चिरपरिवृत्त[९६] तिमिर[९७] को ।
जो उतार लाए भूतल पर,
भास्वर दिव्य मिहिर[९८] को ।।११९।।

नहीं अनुचरी[९९] बने किसी की,
अमलमूर्ति यह वाणी ।
जग में इसकी अनुकम्पा के,
अधिकारी सब प्राणी ।
हो बाधित प्रसार यदि चिन्तन,
डबरे सा सड़ता है ।
सकल समाज प्रभावित होता,
आ जाती जड़ता है ।।१२०।।

आतंकित आशंकित रहते,
वे ही नवधारा से।
बाहर आना नहीं चाहते,
क्षणिक स्वार्थकारा से।
ज्ञानी वह जो नवल सत्य को,
पहचाने स्वीकारे।
नहीं बोझ दुर्वह अतीत का,
व्यर्थ फिरे वह धारे।।१२१।।

जिनका सत्य भीत रहता है,
नव्यविचार - सरणि से।
दीप्त अर्चि[१००] कब उठ सकती है,
उनकी बुद्धि-अरणि[१०१] से।
जो सत भंगुर हो प्रतीत,
असुरक्षित लगता मन को।
वह निष्प्राण मूर्तिवतरक्षित,
क्या कर सकता जन को।।१२२।।

सबको देता अभय उसी सत,
को भय क्या सम्भव है।
मात्र अनृत का कालक्रम से,
हो जाता परिभव है।
नहीं मताग्रहग्रस्त कभी भी,
हो सकता विज्ञानी।
अन्वेषी ही बनता ज्ञानी,
इतर मनुज अभिमानी।।१२३।।

सत्य वही जो नवचिन्तन से,
नित-नव बल पाता है ।
जिसकी जाकर शरण पन्थ नर,
दुर्गम चल पाता है ।
जो त्रिकाल में भी श्रेयस्कर,
रहता सब सत्वों को ।
सब तत्वों से परे, धारता,
फिर भी सब तत्वों को ।।१२४।।

सुनकर कृप के वचन प्रीत हो, सहमति की उद्घोषित ।
भावीशिक्षा करे मनुज को, शुभसंस्कार-सुपोषित ।
बुद्धिमान भी हृदयहीन नर, होता पीड़ादायक ।
भावसम्पदायुक्त मनुज ही, बन सकता उन्नायक[१०२] ।।१२५।।

अश्वत्थामा

द्रौणायनि की ओर निहारा, तब रेणुकातनय ने ।
ली उदात्तता छीन व्यक्ति की, तृष्णा दर्प अनय ने ।
मौन रहो मत सुधी[१०३] दीर्घतर, अनुभव मुखर करो तुम ।
मानवदुःख के गूढ़स्रोत का, चिन्तन प्रखर करो तुम ।।१२६।।

कहने लगे कृपीज विनतशिर, ऋषि रहने दो श्रोता ।
हूँ दर्शक कैसे बन सकता, ज्ञानयज्ञ का होता ।
युगों-युगों के बाद सुधा का, उत्थित स्रोत हुआ है ।
अश्वत्थामा - तृषा - मरूस्थल, जिसने अभी छुआ है ।।१२७।।

बोले तब हनुमान; सुधी तुम, मौन करो मत धारण ।
करो विवेचित तत्व रहे जो, मनुज - व्यथा के कारण ।
यह मत भूलो नरता का हित, तुमको ही करना है ।
मनु बनकर दायित्व जगत का, गुरुतर अब धरना है ।।१२८।।

मराल छन्द

उठे अश्वत्थामा ह्रीयुक्त[१०४], धरा भार्गव चरणों पर शीश ।
नयन थे आर्द्र कण्ठ अवरुद्ध, मुदित ऋषि देते थे आशीष ।
शोक छोड़ो सारा परिताप, उठो तुम अनघ अमल अवदात ।
यामिनी बीत चुकी तम गया, हो चुका स्वर्णिम दिव्य प्रभात ।।१२६।।

उठे द्रौणायनि हो प्रकृतिस्थ, नमन में जोड़े सबके हाथ ।
मानकर ऋषिवर का आदेश, बालवत कहता हूँ निज बात ।
दिव्यता से अपनी हो पतित, अमल अपना वह रूप बिसार ।
प्रकृति - पिञ्जर में शुकवत् दीन, भोगता बहुशः कारागार ।।१३०।।

मान्यता से बन्धनयुत हुआ, जगत में होता जीव प्रतीत ।
कौन सकता सुसूक्ष्म को बाँध, जगत है जिससे स्वयं परीत ।
किया जबसे स्वीकृत पार्थक्य, अनामय विभु से तब से दीन ।
विवश सहता द्वंद्वों की मार, भटकता फिरता है श्रीहीन ।।१३१।।

नियति के सहता क्रूर प्रहार, शीघ्र जाता पर गुरुदुःख भूल ।
पुनः आयोजनरत धीमान[१०५], चल रहा अपने ही प्रतिकूल ।
अहंता लिप्सा ईर्ष्या द्वेष, कोप हिंसा शोषण प्रतिशोध ।
दुःखद होती श्रृंखला प्रवृत्त, मनुज के दुःख का कहाँ निरोध ।।१३२।।

सदा आशा का संबल लिए, अनारत[१०६] कर जीवन-संघर्ष ।
सुखद - स्वप्निल-जग को खोजते, बिताए मानव ने बहु वर्ष ।
हारता आया अनुभव दीर्घ, विजयिनी आशा रही सदैव ।
खोज सुख की शाश्वत चल रही, यही है मानव का दुर्दैव ।।१३३।।

लगाकर तन-मन की सब शक्ति, युक्ति से करके द्रव्य गृहीत ।
मुदित बाहर से दिखता कभी, सदा भीतर रहता भयभीत ।
प्राप्त होते ही वांछित वस्तु, सदा हो जाती क्यों रसहीन ।
और पाकर भी बहुल पदार्थ, चित्त रह जाता है क्यों दीन ।।१३४।।

शून्य मन का भरता ही नहीं, ठहर पाता न तृप्ति का भाव ।
इन्द्रियाँ होतीं जातीं शिथिल, आयु का होता क्रमिक रिसाव ।
दौड़ चलती आयी है व्यग्र, क्षितिजवत् मिला नहीं गन्तव्य ।
बुद्धि हो गयी अनुचरी परम, प्रशासक मन के हैं मन्तव्य[१०७] ।।१३५।।

व्यर्थता धारण करता हंत! किन्तु जीवन भर का पुरुषार्थ ।
न कर पाते तृष्णा का अन्त, विपुल संग्रह के विविध पदार्थ ।
मनुज के हर जीवन की दौड़, विफलता में ही हुई समाप्त ।
हो गये शतशः वर्ष व्यतीत, शान्ति-सुख हुआ कहाँ है प्राप्त ।।१३६।।

बड़ी जीवन ऊर्जा को लिए यहाँ नर होता है अवतीर्ण ।
तृषा लेकर हो व्यग्र अपूर्ण, छोड़ जाता अतिजीर्ण-शरीर ।
नवलयुग-आगम है आसन्न, करेंगे अब हम गहन विचार ।
व्यर्थता की करलें पहचान, न ढोएंगे यह दुर्वह भार ।।१३७।।

लक्ष्य तक पहुँचाती न कदापि, छोड़ देनी है ऐसी दौड़ ।
बिठा पाया है जग में कौन, जगत के गहन प्रश्न का जोड़ ।
मिला जो जीवन हमें अमूल्य, विधाता का अनुपम वरदान ।
इंद्रियाँ, मन, मति, ज्ञान, प्रकाश, प्रकृति-जननी की क्रोड़ महान ।।१३८।।

न जीवनधन हो जाए रिक्त, जोड़ते वपुसुविधा-सामान ।
बहुत ही भंगुर है यह देह, न थिर है पद वैभव बल मान ।
न मन की मनमानी अब चले, बुद्धि हो जाय दासतामुक्त ।
न शासन करें देह पर द्रव्य, न खींचे विषयभोग्य या भुक्त ।।१३९।।

जगत के सब आमोद प्रमोद, आत्मविस्मृति के मात्र उपाय ।
दबाने अपना सतत विषाद जोड़ते जन धन का समुदाय ।
मद्य पीकर क्षण को यदि रुग्ण, विषमपीड़ा को जाता भूल ।
प्राप्त क्या हो जाता है स्वास्थ्य, रोग का कट जाता क्या मूल ।।१४०।।

दृष्टि रहती यदि देह-निबद्ध, मनुज का विकसित भी विज्ञान ।
मात्र फैलाता शोषण दैन्य, विषमता वैभवनाश - विधान ।
मनीषा मानव की यदि यहाँ, मात्र सुविधासंचय में लीन ।
भव्यभावों का भास्वरभवन, भला क्यों हो न अचिर श्रीहीन ।।१४१।।

गयी हैं सहस्राब्दियाँ बीत, बहुत देखे उन्नति अपकर्ष ।
नयी आशा से लेते रहे, सदा हम हर आगत नववर्ष ।
लिए हर बार शुभ्र संकल्प, कल्पना की भावी की रम्य ।
खींच लेती पर बारंबार, वासना जग की परम अशम्य ।।१४२।।

मनुज तुम आओ भी अब लौट, चोट खाते जाते पर भूल ।
बना पाया इस जग में कौन, विषम-विष को जीवन अनुकूल ।
मृत्तिका का छूटे अब मोह, दिव्यता से हो कुछ पहचान ।
तभी है मेधा का साफल्य, शल्यवत् निकले जब अज्ञान ।।१४३।।

भूल जाओगे सब दुःख - दैन्य, दिव्यता लोगे जब पहचान ।
मृदा से लिपटे हो तुम अभी, आत्मसुख से अबतक अनजान ।
नये के स्वागत में हो लीन, न भूलें बीते वर्ष हजार ।
सुधी लेते अतीत से सीख, अनागत[१०८] का करते सुविचार ।।१४४।।

उमड़ आए करुणा का स्रोत, किसी की देख आर्द्र-दृगकोर ।
और मुस्कान देखकर उठे, हृदय में निश्छल-मोद-हिलोर ।
जानना तब तुम हो बढ़ रहे, अमलता मानवता की ओर ।
लगे जब तुम्हें तोड़ना पाप, प्रीति की या प्रतीति की डोर ।।१४५।।

मान लें पुनः सूर्य को देव, मिले फिर से हमको वरदृष्टि ।
धरा को फिर से जननी जान, मान लें परिजनवत् सब सृष्टि ।
नव्यसर्जन का है आरम्भ, किन्तु सार्थक है तभी प्रवेश ।
डाल लें हम निजपर भी दृष्टि, बदल लें अंतर का परिवेश ।।१४६।।

हरिगीतिका

सुनकर वचन वे सारगर्भित चाकेत थे सब मुदित थे ।
कल के महारथ द्रोण सुत ऋषि रुप में अब उदित थे ।
हरिशिष्य की सर्वज्ञता है उचित ही मुनि ने कहा ।
नवसृष्टि के तुम योग्य हो गुरु अब न कुछ संशय रहा ।।१४७।।

व्यास जी : **सार छन्द**

जिन मुनिवर को वासुदेव ने,
अपना रूप बताया ।
हुआ द्वीप में प्रकट अतः,
शिशु द्वैपायन कहलाया ।
वेदों का कर व्यास बने,
जो परम लोक हितकारी ।
नहीं नाम के कृष्ण मुनीश्वर,
कृष्ण तत्व के धारी ।।१४८।।

धन्य पराशर - सत्यवती हैं,
जन कर ऐसा आत्मज ।
जिसने देखा तत्व बतायी,
सकल सृष्टि यह आत्मज[१०६] ।
मात्र ब्रह्म की ही सत्ता है,
वही बना जड़-जंगम ।
परम ज्ञान सह पराभक्ति का,
युग-युग दुर्लभ संगम ।।१४६।।

लिपिक बने जिनके सहर्ष वे,
उमा-तनय गणनायक ।
द्वापर-प्रज्ञापुञ्ज आर्य संस्कृति,
के अमृत गायक ।
रह कर अविचल देखा अपने,
ही कुटुम्ब के क्षय को ।
परावाक हरि की कर गीता,
हरा मनुज के भय को ।।१५०।।

अष्टादश पुराण के कर्ता,
भारत के उद्घोषक ।
अति उदात्त भारत[११०] की संस्कृति,
के अश्रान्त[१११] परिपोषक ।
ज्ञान दीप प्रज्वालक शम के,
मूर्तिमान विग्रह से ।
इस महेन्द्र पर करें मुक्त वे,
वाणी को निग्रह से ।।१५१।।

कहा व्यास ने नृत्य-नाटिका,
द्वंद्वमयी है जग की ।
पिंजर को ही स्वगृह समझता,
चिर है भूल विहग की ।
आदि-अविद्याजात-मोहवश,
भास्वर दिव्य अनामय ।
उपल[११२] प्रभासम्मूढ़ दीनवत,
करता धातुज सञ्चय ।।१५२।।

निर्धन कभी नहीं था इतना,
भाव जगत मानव का ।
नहीं राज्य इतना था विस्तृत,
कभी स्वार्थ दानव का ।
रागमयी हो गयी मनुज की,
दृष्टि जभी से अरुणा ।
हुई मुमूर्ष द्वन्द्वमय जग में,
उसी दिवस से करुणा ।।१५३।।

मार्दव किया विमर्दित सारा,
पार्थिव-ज्ञानासव[११३] ने ।
मेधा करी प्रदूषित ज्यों ऋषि,
की जाया वासव[११४] ने।
रंगों में खो गयी दृष्टि,
ओझल हो गयी मधुरिमा ।
उत्प्लावकता पूज्य हुई खो,
गयी गहनता गरिमा ।।१५४।।

अन्तर्धान हुई अन्तर से,
जिस दिन अमल सरलता ।
रोहित हुई कामना लतिका,
फलिता हुई गरलता ।
पड़ने लगे न्यून वैभव सब,
लोभ दनुज छाया में ।
हुए निमज्जित क्षण परिणामी,
मोह करी माया में ।।१५५।।

विक्रय वस्तु बनाया नर ने,
नर को इसी धरा पर।
अमित कुकृत्य हुए हैं वसु हित,
पावन वसुन्धरा पर।
रजत[११५] हेतु रौंदी हैं राजित,
शान्तिमयी संस्कृतियाँ।
हेम हेतु धारी असुरों ने,
मानव की आकृतियाँ ।।१५६।।

होता रहा युगों से भू पर,
यह उद्वमन विषैला ।
बीज कभी वह हुआ कभी फिर,
बन कर तरुवर फैला ।
हारी है सभ्यता कभी तो,
भीषण बर्वरता से ।
किन्तु अन्ततः हुई विनष्टा,
मन की उर्वरता से।।१५७।।

शोषण प्रतिद्वन्द्विता द्वेष छल,
कपट स्वजन भ्राता से।
निर्मम दोहन संसाधन का,
द्रोह प्रकृति माता से ।
करके क्या पाया मानव ने,
शंका भय अस्थिरता ।
दुश्चिन्ता का बोझ उठाए,
व्याकुल मानव फिरता ।।१५८।।

चिर नव्यता उसे संसृति की,
रहती सदा लुभाती ।
माया नटी बढ़ाती तृष्णा,
बार-बार थी गाती ।
इन्द्र जाल में फँसा हुआ नर,
हँसता है या रोता ।
भ्रम के महा उदधि में होकर,
विवश लगाता गोता।।१५९।।

सुधा निकल सकती थी निश्चय,
वसुधा के मन्थन से।
और बचाया जा सकता था,
मानव को क्रन्दन से।
पाया नहीं किन्तु शिव जैसा,
मनुसुत ने विषपायी।
मन्थन के उद्योग बन गये,
अतः परम दुःखदायी।।१६०।।

धारण किया मूढ़ नरता ने,
मदिरा साथ गरल को।
और विषम कर डाला अपने,
निर्मल चित्त सरल को।
अहंकार मद मोह और,
लिप्सा का गरल समेटे।
सुख की मृग मरीचिका में निज,
का विनाश कर बैठे।।१६१।।

ईश्वर का प्रिय तनय मनुज था,
प्राणि रत्न सर्जन का।
अहंकार के अट्टहास में,
स्वर न सुना वर्जन का।
मेधा का ऐसा था नर्तन,
अपनी क्षार उड़ायी।
सत्य और शिव छोड़ बन गया,
भस्मासुर अनुयायी।।१६२।।

कर सकते थे दूर दैन्य दुःख,
इस सारी संसृति के।
हर सकते थे दोष कोष भर,
सकते थे संस्कृति के।
संसाधन थे विपुल कुशलता,
बल विज्ञान अमित था।
हो न सका कुछ हन्त! स्वार्थ से,
मानव पूर्ण विजित था।।१६३।।

विश्लेषण रत रही मनीषा,
संश्लेषण था छूटा।
पार्थिव अन्वेषण का देखा,
नर ने काल अनूठा।
नहीं पदार्थ भिन्न ऊर्जा से,
परम सत्य यह जाना।
रूप बदलती ऊर्जा है,
अविनश्वर यह पहचाना।।१६४।।

लिए खोल बहु भेद प्रकृति के,
डूबा किन्तु विकृति में।
करने लगा प्रयोग शक्ति का,
मानव अहा निकृति में।
लगता परम विचित्र किन्तु है,
सत्य प्रलय के साधन।
खोजे स्वयं लगाकर मेधा,
कर पार्थिव आराधन।।१६५।।

यद्यपि जाना तत्व वस्तु का,
किन्तु विवेक न जागा।
रहा पदार्थों के पीछे ही,
फिरता मनुज अभागा।
था प्रत्यक्ष दृश्यगत जो कुछ,
परमाण्विक संयोजन ।
तदपि हन्त! तृष्णा करवाती,
रही विवध आयोजन।।१६६।।

यदि हो सुप्त विवेक ज्ञान फिर,
है तलवार दुधारी ।
बन सकती उत्कर्ष साधिका,
या क्षय कारण भारी।
अतः सन्तुलन आवश्यक है,
बुद्धि और भावों का।
तर्क नहीं बन सकता केवट,
संस्कृति की नावों का।।१६७।।

साधन हीन व्याधि पीड़ित तन,
आधिदग्ध[११६] मनधारी ।
सुख स्वरूप फिरता देखों नर,
सुख का बना भिखारी ।
श्रम अर्थार्जन भोग और फिर,
पतन यही लेखा है ।
काल चक्र से परे मनुज ने,
अभी कहाँ देखा है ।।१६८।।

किन्तु दोष दें किसे काल की,
अपनी ही कुछ गति है ।
नहीं साथ देती अपाय[११७] में,
प्रज्ञों की भी मति है।
बने रहे विद्वान शान्ति हित,
उद्यमरत केशव थे ।
धर्म क्षेत्र में पड़े कोटिशः,
नर वीरों के शव थे ।।१६६।।

जीवन मोद मयी लीला ही,
विधि ने यहाँ बनायी।
उसको बना लिया मानव ने,
लम्बी विषम लड़ायी ।
जोड़ लिए कुछ द्रव्य धातुएं,
यान्त्रिक तुच्छ खिलौने ।
फैल गये मस्तिष्क हुए उर,
नर के क्रमशः बौने ।।१७०।।

पाता था साफल्य कभी कर,
चारों पुरुषार्थों को ।
जाता था वह जान गूढ़ गुरु,
जीवन के अर्थों को।
दीन मना व्याकुल अभिरत है,
मात्र द्रव्य अर्जन में।
केवल मनुज दुखी हैं विधि के,
इस त्रैगुण[११८] सर्जन में ।।१७१।।

स्वाभाविक गुणधर्म वस्तु का,
ही तो धर्म कहाता ।
पुनः सहजता - उन्मुख होना,
साधन-तत्व कहाता ।
नहीं दिव्यता खोई लानी,
नहीं कहीं से आगे।
है करणीय मात्र इतना ही,
नर स्वरूपप्रति जागे।।१७२।।

मात्र सूचनाओं का सङ्ग्रह,
ज्ञान नहीं होता है।
ज्ञानाभासविमूढ़ शास्त्रविद्,
तम में ही सोता है।
देख वाटिका-चित्र न सौरभ,
का अनुभव जन करता ।
मात्र स्वानुभव आधि अर्ति को,
मरणभीति को हरता ।।१७३।।

चण्ड - दण्ड - पाखण्ड[११९] जनोदित,
या निरवधि कटुकारा[१२०]।
नहीं दनुजता से नरता को,
दे सकते छुटकारा ।
सहज सरलता और मृदुलता,
जिज्ञासा शिशु मन की ।
रक्षित करनी और पोषनी,
ज्यों कलिका उपवन की।।१७४।।

नहीं पुनर्निर्मिति होती है,
नर समाज की भय से ।
मिलती नहीं समुन्नति जग को,
मात्र शत्रु पर जय से ।
कण्टक तरु उन्मूलन भर से,
नहीं विकसता उपवन ।
जन - धन का सुलक्ष्य से करना,
होता है संयोजन ।।१७५।।

प्रखर आत्मबल युक्त शीलवर्मा[१२१], ज्ञानायुधधारी ।
अनुशासित गुरुप्राण प्रकृति जननी, के सुत अधिकारी ।
वीर व्रती धृतिमान विवेकी, भूत मात्र हितकर्ता ।
होंगे जब मनुपुत्र बनेंगे, पीड़ित मन भयहर्ता ।।१७६।।

परशुरामः

परिषद का अनुरोध मानकर, वोले तव भृगु नन्दन ।
आप सभी के वचनों का हम, करते हैं अभिनन्दन ।
युग-युग का सञ्चित विवेक गिरि, पर हो रहा मुखर है ।
नव-सर्जन के उषःकाल का यह अनुपम अवसर है ।।१७७।।

जब तक मानव मन संकट के, भय से मुक्त न होगा ।
बाधा रहित विकास न होगा, चिन्तन मुक्त न होगा ।
जब तक मानव के कारण ही नर का पथ रुकता है ।
नहीं समाज शिखर उन्नति के, तव तक छू सकता है ।।।१७८।।

मूल रहे हैं आश्रम ही हम, आर्यों की संस्कृति के ।
विकसित होती जहाँ क्रोड़ में नरता शुभ संसृति के ।
शाश्वतता के बीज निहित हैं, ज्ञान शील आर्जव में ।
शम, दम और तितिक्षा में तप, त्याग और मार्दव में ।।१७९।।

जो संस्कृति विकास पाती है, बल से या शोषण से ।
अन्यों का विनाश करके, बहुधरा - द्रव्यमोषण से।
अर्थसिद्धि के हेतु जहाँ पर, स्वागत सदा अनय का ।
बहुसंख्यक जन के मानस पर, शासन होता भय का ।।१८०।।

वह उत्कर्षाभास क्षणिक है, सुखद स्वप्न कुछ जन का ।
पोषित करता जिसको श्रमजल, रूधिर दलित बहु जन का ।
विविध-पदार्थ-अवाप्ति मात्र हो, वैभव की परिभाषा।
आप्तवर्ग[१२२] भी जहाँ बोलता, व्यापारी की भाषा ।।१८१।।

मानव से भी अधिक वस्तुओं, का हो मोल जहाँ पर ।
निर्मम प्रतिद्वन्द्विता द्वेष दुःख, होंगे क्यों न वहाँ पर।
जाती नहीं दीनता मन की उस सञ्चित वैभव से।
तृषा कहाँ मिटती मृगजल से, मुक्ति कहाँ परिभव से ।।१८२।।

भीषण भोगवाद का अजगर, चित्त जकड़ लेता है ।
लोभ स्वार्थ का ग्राह[१२३] ज्ञान-गजचरण पकड़ लेता है ।
और खींचता जाता उसको, जहाँ पंक है गहरा ।
रहता मुदित तटस्थ मनुज, जिस पर विवेक का पहरा।।१८३।।

भय फैलाकर करते शोषण, परजीवी अपकारी ।
है निर्बलता हेय निंद्य पर, कायरता अति भारी।
पाप मानना होगा नर को, सहना शठ-अपकृति को ।
पुरुष नहीं वह यदि न समुद्यत, निर्णायक प्रतिकृति[१२४] को ।।१८४।।

प्रत्युत्तरित न होतीं जब तक, दुर्जन की हुंकारें ।
रहा सिमटता नर यदि भय से, सुन भोगी फुंकारें ।
परिसीमित धन-देहक्षेम तक, नर का उद्यम अपना ।
तब तक शंखनाद ऋतजय[१२५] का मात्र रहेगा सपना ।।१८५।।

दनुजदलन से कभी न मानव, बनता हिंसादोषी ।
सदा वध्य है पीड़ादायी, नर शोणित-अवशोषी ।
क्रूर सत्व को बोध्य सदा ही, मात्र शक्ति की भाषा ।
कण्टक - निर्मूलन बलपूर्वक, यही नीति परिभाषा ।।१८६।।

आर्य नियम व्यवहार्य आर्य प्रति, नहीं अनार्यों प्रति है ।
निजविनाशकारी बन जाती, क्षमा तितिक्षा धृति है ।
एक पक्ष ही रहा नीतिधर, जब-जब यहाँ अकेला ।
पराभूति अपमान दासता, शोषण जन ने झेला ।।१८७।।

जिस समाज में होती निस्पृह, ज्ञानी की अवहेला ।
सत्यनिष्ठ अपने उपक्रम में, पड़ता जहाँ अकेला ।
कञ्चन ही समझा जाता जब, सभी सुखों का आश्रय ।
वहाँ तिरस्कृत हुई मनुजता, फिरती दीन निराश्रय ।।१८८।।

सत्ता के सम्मुख होता है, नतशिर जब भी ज्ञानी ।
धनबल जनबल से शठ करते, फिरते जब मन मानी ।
जब शासक ही अपराधी हो, न्याय कौन कर सकता ।
विषम-वेदना मूकप्रजा की, कौन यहाँ हर सकता ।।१८९।।

शक्ति - समाराधन ज्ञानी का, इसीलिए हितकर है ।
मात्र ग्रन्थ से धर्मप्रतिष्ठा, जग में कहाँ सुकर है ।
अस्त्रज्ञान अनिवार्य सदा ही, भू पर दुष्टदलन में ।
ताड़न उचित सदा पशु का यदि, घुसता हो उपवन में ।।१९०।।

शक्ति और शिव दोनों का ही, करे मनुज आराधन ।
निज विकास के साथ बने वह लोकभूति का साधन ।
शिव के बिना शक्ति अनियन्त्रित, है अपाय का कारण ।
दोनों का संयोग कर रहा, सकल सृष्टि का धारण ।।१९१।।

हम सबका विचार-विनिमय यह, बने भूतहितकारी ।
नर्तन करे पुनः यह संसृति, प्रकटे सुषमा सारी ।
पुनः प्रवर्तित हो अतर्क्य[१२६] वह, परमपुरुष की लीला ।
किन्तु न घेरे भावी मनुसुत को अज्ञानप्रमीला[१२७] ।।१६२।।

सातों के मत सप्त स्वरों से, हों लययुत मुदवर्धन ।
सप्तधातुवत् हुए समञ्जित, करें स्वस्थ नवसर्जन।
सप्तवर्णयुत रवि-मयूखसम, लाएँ सुखद सवेरा ।
सप्त-सप्तिसम[१२८] नभारूढ़ हो, नाशें विषम अँधेरा ।।१६३।।

न हो पुनः अभिशप्त सप्तद्वीपा[१२९] वसुधा यह आगे ।
सप्तलोक - अभिगण्य धरा का वासी मानव जागे ।
सप्त दिवसगण धारें नित नव, ऋद्धि-सिद्धि के गण को ।
निर्मलधी मानव श्रेयसरत[१३०], भूले कटु प्रकरण को ।।१६४।।

हों सप्तांशु[१३१] हव्य के वाहक, सप्तजिह्व[१३२] वरदायक ।
सप्तचक्र[१३३]- आरोहणरतमुनि, हों जगभूतिविधायक ।
सप्तात्मा[१३४] की सृष्टि सफल हो, सप्तर्षिज सम मेधा ।
धारें नर, सप्तार्चि[१३५] अनुग्रह करें मुदित हों वेधा ।।१६५।।

मराल

शान्त हो प्रकृति विकृतियाँ शान्त, मानस हो सत्यागार ।
अमल हों नर के चिन्तन कृत्य, सभी भोगें आनन्द अपार ।
केन्द्र उन्मुख हों जगे विवेक, परिधि पर ही न भ्रमें निरुपाय ।
जगत का करके शुभ-उपयोग, जानलें जीवन का अभिप्राय ।।१६६।।

हरिगीतिका

मंगल करें हरि सर्वदा संसार में सुख शान्ति हो ।
हैं वस्तुनिष्ठ समस्त सुख यह दूर नर की भ्रान्ति हो ।
प्रतिद्वन्द्विता लिप्सा त्वरा हों उपशमित विश्रान्ति हो ।
आवेग चिन्ता का मिटे उपलब्ध फिर वह कान्ति हो ।।१६७।।

शिव हो सदा इस जगत का, अविरल कृपा शंकर करें ।
भव शूलहर वे प्रीत हों, भवशूल[१३६] सद्यः ही हरें ।
भूतेश भूतों को दिखाएं, मार्ग श्रेयस धर्म का ।
वहुभूतिप्रद शितिकण्ठ[१३७]हों, शित[१३८]बन्ध काटें कर्म का ।।१६८।।

सन्दर्भ सूची

१. शमन कर्ता, २. शरणागत की वेदना, ३. कामदेव, ४. परशुराम के चरणों की धूल धारण करने वाला, ५. प्राणियों का कल्याण करने वाली, ६. उदार, ७. वैल नन्दी, ८. विष ही जिनका कवच है, ९. क्रौञ्च पर्वत को विदीर्ण करने वाले, १०. वलवान शक्ति नामक अस्त्रधारी, ११. तारकासुर को मारने वाले, १२. शरण लेने योग्य गति, १३. पर्वत, १४. पर्वत, १५. सृजन की इच्छा, १६. प्रकृति, १७. मुक्ति के अभिलाषा, १८. कामदेव, १९. एक साथ, २०. बैठा हुआ, २१. गजचर्म युक्तता, २२. शिवजी, २३. पृथ्वी, २४. पर्वत, २५. हिमालय पुत्र मैनाक, २६. समुद्र, २७. आकाश छूने वाले, २८. परशुराम के साथ युद्ध में गणेशजी का एक दाँत टूटा था, २९. परशुराम ने अपना परशु लोहित नदी में धोया, यह नदी अरुणाचल प्रदेश में है, ३०. कश्यप ऋषि जिनको परशुराम के सभी सृष्टि दान में दे दी, ३१. हैहय वंशीय सहस्त्रार्जुन, ३२. अग्नि, ३३. प्रकाश मान, ३४. दैत्यराज प्रहलाद के पुत्र बलि के पिता, ३५. शुक्राचार्य, ३६. परशुराम, ३७. परशुराम, ३८. विद्वान, ३९. मन की लगाम, ४०. पुष्कल प्रभूत प्रचुर, ४१. निष्पाप, ४२. अनुयायी, ४३. पाप, ४४. घन, ४५. विवर्धित होकर, ४६. काटकर नष्ट करना, ४७. पृथ्वी, ४८. पातालपति महाराज वलि, ४९. विरोचन पुत्र वलि, ५०. उद्यमी, ५१. धैर्य, ५२. दक्षप्रजापति की पुत्री कश्यप की पत्नी दैत्यों की माता, ५३. ऋषि जिन से दैत्य, दानव, सर्पादि उत्पन्न हुए, ५४. पाप, कुकर्म, ५५. भयानक, ५६. अदिति माता से उत्पन्न देव गण में १२ है। ५७. मार्ग, ५८. काटे गये विनष्ट, ५९. जिसका परिणाम दुःखद हो, ६०. कामना, अभीप्सा, ६१. चुराना, अपहण करना, ६२. त्याग, दान, ६३. देवता, स्वर्ग में रहने वाला, ६४. हाँ में हाँ मिलाने वाली, ६५. रोग, ६६. सरलता, ६७. मृदुता, ६८. राजा ६९. देश ७०. लालची, ७१. मदिरा, ७२. युद्ध, ७३. संसार को दूषित करने वाली, ७४. आसान सरल, ७५. व्यापक, ७६. प्रतिदिन, ७७. नवीनता, ७८. स्वर्ग, ७९. जिसे न जाना जा सके, ८०. शुक्राचार्य संजीवनी विद्या के ज्ञाता, ८१. निर्मल निष्पाप, ८२. भविष्य, ८३. अंजनि पुत्र हनुमान, ८४. विस्तृत, ८५. मूर्ख, ८६. भूख, खाने की लालसा, ८७. गृहण करने की इच्छा, ८८. खेत रहना रण में मारा जाना, ८९. तैरती हुई, ९०. पण्डित विद्वान, ९१. आजीविका की कामना करने वाला, ९२. बड़ी, भारी, महान, ९३. गृहण करने वाला, ९४. व्यक्ति, ९५. तेजी, वेग, अधैर्य, शीघ्रता, ९६. अनादिकाल से घिरा हुआ, ९७. अज्ञान रूपी अंधकार, ९८. सूर्य, ९९. सेविका, १००. लौ, १०१. यज्ञाग्नि प्रज्वलन में प्रयुक्त लकड़ी, १०२. उन्नति की ओर ले जाने वाला,

१०३. विद्वान, १०४. लज्जा से भरे, १०५. बुद्धिमान, १०६. लगातार, १०७. अभिमत, १०८. भविष्य, १०६. आत्मा से उत्पन्न, ११०. महाभारत, १११. अथक, ११२. पत्थर, ११३. लौकिक ज्ञान की मदिरा, ११४. इन्द्र, ११५. चाँदी, ११६. मानसिक दुश्चिन्ता, ११७. हानि, आपदा, विनाश, ११८. सत्व रज तम तीणगुण वाली, ११६. पाखण्डियों द्वारा निश्चित, १२०. कठोर कारावास, १२१. चरित्र ही जिनका कवच है, १२२. ज्ञानी जन, १२३. मगर, १२४. प्रतिकार, १२५. सत्य की विजय, १२६. तर्क द्वारा जिसे न समझा जा सके वुद्धिगम्य न हो, १२७. अजान रूपी निद्रा, १२८. सूर्य, १२६. पृथ्वी को सप्तद्वीपा कहा जाता था, १३०. कल्याण में लगे हुए, १३१. अग्नि, १३२. विष्णु, १३३. योगशास्त्र में वर्णित चक्र, १३४. ब्रह्मा, १३५. शनिदेव, १३६. संसार के कष्ट, १३७. शिवजी, १३८. तीक्ष्ण।

❖